बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 25-05-18

जलवायु परिवर्तन और भारत की अनूठी शक्ति

जलवायु परिवर्तन के मोर्चे पर भारत ने अपनी सॉफ्ट पावर का अच्छा इस्तेमाल किया है। इसकी बदौलत उसे काफी सफलता भी मिली है।

अरुणाभ घोष

जोसेफ नाय सॉफ्ट पावर को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, 'दूसरों की प्राथमिकता को प्रभावित करने और आकार देने की क्षमता का नाम ही सॉफ्ट पावर है।' सॉफ्ट पावर में तमाम अन्य संसाधनों के अलावा मूल्य, नीतियां और संस्थान भी शामिल हैं। पिछले दशक के दौरान भारत ने जलवायु परिवर्तन के क्षेत्र में इन संसाधनों का इस्तेमाल किया। जलवायु परिवर्तन के क्षेत्र में नेतृत्वकर्ता की अपनी भूमिका तलाशने के क्रम में भारत ने तीन ब्योरे प्रस्तुत किए। पहला, उदाहरण की शक्ति, दूसरा प्रतिरोध की शक्ति और तीसरा संस्थागत नेतृत्व की शक्ति।

उदाहरण की शक्ति

लंबे समय तक भारत ने विकसित देशों से यह मांग की कि वह जलवायु परिवर्तन के मोर्चे पर अधिक से अधिक कदम उठाएं। उसने यह दलील भी दी कि उसे अधिक जलवायु अनुकूल तरीके अपनाने के लिए तकनीक और वित्तीय मदद की आवश्यकता है। उसकी यह मांग जायज रही और वर्ष 2008 से उसने अपनी नीतियों और बाजार के आकार का इस्तेमाल घरेलू स्तर पर बदलाव लाने के लिए करना शुरू कर दिया। ऊर्जा का किफायती इस्तेमाल एक महत्त्वपूर्ण कारक रहा है। प्रदर्शन, उपलब्धि और व्यापार की योजना ने ऊर्जा के किफायती लक्ष्य तय किए। ऊर्जा बचत प्रमाणपत्रों की मदद ली गई। अन्य योजनाओं की बात करें तो उपकरणों के लिए सुपर-इफिशिएंट इक्विपमेंट प्रोग्राम शुरू किया गया। वातानुकूलकों और प्रशीतकों के लिए वैकल्पिक तकनीक तैयार करने के लिए राष्ट्रीय प्रशीतन कार्य योजना तैयार की गई। बाजार से जुड़ी अग्रिम प्रतिबद्धताओं ने एलईडी बल्ब का एक बड़ा बाजार तैयार किया। तीन साल के भीतर इनकी कीमतें 80 फीसदी तक गिर गईं और करीब 30 लाख बल्ब वितरित किए गए। अब यही काम किफायती पंखों, एयरकंडीशनर और बिजली चालित वाहनों के मामले में हो रहा है।

एक अन्य उदाहरण जीवाश्म ईंधन सब्सिडी सुधार और बेहतर लक्षित सब्सिडी वाली ऊर्जा पहुंच से संबंधित है। नवंबर 2014 से पहल योजना के तहत गरीब परिवारों की एलपीजी सब्सिडी को बैंक खातों में सीधे भेजा जा रहा है। जनवरी 2016 तक इसने 90 फीसदी उपभोक्ताओं को दायरे में ले लिया और दुनिया की सबसे बड़ी नकद हस्तांतरण योजना बन गई। गिव इट अप अभियान के तहत पहले ही साल करीब एक करोड़ परिवारों ने अपनी एलपीजी सब्सिडी त्याग दी। उज्ज्वला योजना के तहत एलपीजी की पहुंच सन 2014 के 56 फीसदी परिवारों से बढ़कर जनवरी 2018 तक देश के 80

फीसदी परिवारों तक हो चुकी थी। तमाम चुनौतियों के बावजूद सब्सिडी सुधार की इस चरणबद्ध योजना ने भारत की छवि में सुधार ही किया है।

सबसे बड़ी तेजी नवीकरणीय ऊर्जा के क्षेत्र में आई। सन 2010 में जब राष्ट्रीय सौर मिशन की शुरुआत हुई और 2022 तक 22,000 मेगावॉट क्षमता हासिल करने का लक्ष्य तय किया गया तब हमारी स्थापित क्षमता केवल 17.8 मेगावॉट थी। सन 2015 में नवीकरणीय ऊर्जा के लक्ष्य को संशोधित कर 175,000 मेगावॉट किया गया और मार्च 2018 तक हम 69,000 मेगावॉट का आंकड़ा छू चुके हैं। एक ओर जहां कई यूरोपीय देशों ने उपभोक्ता सब्सिडी के जरिये नवीकरणीय ऊर्जा पर जोर दिया, वहीं भारत ने सौर ऊर्जा के लिए प्रतिस्पर्धी बोली अपनाई। इस समय भारत में इसकी दर दुनिया की सबसे कम दरों में से एक है। बाजार के अनुकूल और राजकोषीय रूप से मजबूत नीतियों का प्रदर्शन करके भारत ने यह धारणा ही उलट दी कि नवीकरणीय ऊर्जा बहुत महंगी होती है या वह केवल विकसित देशों की पहुंच में है।

प्रतिरोध की क्षमता

देश के सॉफ्ट पावर होने की दूसरी बात जलवायु परिवर्तन वार्ताओं में प्रतिरोध में निहित हैं। इसके तहत समता और जलवायु के क्षेत्र में न्याय पर जोर दिया गया। अन्याय के प्रतिरोध का अपना मूल्य है। भारत ने सन 1970 के दशक से ही वैश्विक पर्यावरण राजनीति में इन तरीकों को अपनाना शुरू कर दिया था। सन 2009 में कोपेनहेगन में आयोजित जलवायु शिखर वार्ता के नाकाम होने के बाद विकसित और विकासशील देशों के दायित्व का अंतर तेजी से समाप्त हुआ। भारत को यह तय करना था कि वह बात मान लेता है या जलवायु परिवर्तन से निपटने की अपनी योजनाओं के साथ सामने आता है। सन 2015 में जब पेरिस जलवायु वार्ता पास आई तो भारत अपनी महत्त्वाकांक्षी कार्बन उपयोग कटौती योजना के साथ योगदान का इच्छुक था। परंतु उसकी प्रतिरोध की ताकत के चलते जलवायु संबंधी न्याय का प्रावधान पेरिस समझौते में वापस जुड़ सका।

सन 2016 में मॉन्ट्रियल प्रोटोकॉल के किगाली संशोधन के तहत हाइड्रो लोरोकॉर्बन का इस्तेमाल कम करने की शुरुआत हुई। भारत ने इसके लिए तय वर्ष को और आगे खींचने की कोशिश की। उसने इस बात पर जोर दिया कि उसके और चीन के बीच के उत्सर्जन के स्तर को अलग-अलग किया जाए। यहां तक कि सन 2050 में भारत का एचएफसी उत्सर्जन विश्व के कुल उत्सर्जन का 7 फीसदी रहेगा जबकि चीन का स्तर वैश्विक स्तर के 31 फीसदी के बराबर रहेगा। अंतिम समझौते के मुताबिक चीन इस पर 2024 में पूर्ण नियंत्रण कर देगा जबकि भारत 2028 में। यह भी भारत की इस इच्छाशक्ति को दर्शाता हैकि वह बिना अंतर पर समझौता किए बहुपक्षीय समाधान चाहता है।

पेरिस और किगाली में भारत ने तीन बातों को साधने की कोशिश की। पहला उसे समझौता करने वाला समझा जाए न कि समझौता भंग करने वाला। दूसरा वह वृद्धि के मोर्चे पर लचीलापन रखे और समता के सिद्धांत पर प्रतिरोध समाप्त न हो तथा तीसरा जवाबदेही के स्तर पर न्याय हो और अंतर का ध्यान रखा जाए। प्रतिरोध भारत की स्थिति के केंद्र में था, वह कोई बाधा नहीं था। अब इस रुख का परीक्षण होगा क्योंकि पेरिस वार्ता वर्ष 2018 में जारी रहेगी।

नेतृत्व की शक्ति

भारत की कूटनयिक शक्ति और राजनीतिक नेतृत्व का बढिया प्रदर्शन तब देखने को मिला जब उसने फ्रांस के साथ अन्तरराष्ट्रीय सौर गठजोड़ किया। 30 नवंबर, 2015 को घोषित इस गठजोड़ के बाद आईएसए स्थिर गति से आगे बढ़ा

है। नवंबर 2016 में उसके फ्रेमवर्क एग्रीमेंट को हस्ताक्षर के लिए खोला गया। नवंबर 2017 तक 15 देश इस पर सहमति दर्ज करा चुके हैं यानी 6 दिसंबर तक आईएसए दुनिया के नवीनतम संधि आधारित अंतरसरकारी संस्थान के रूप में जन्म ले चुका है। मार्च 2018 में जब नई दिल्ली में उसकी स्थापना से जुड़ा सम्मेलन हुआ तो 61 देशों ने समझौते पर हस्ताक्षर किए और 32 देशों ने उसे स्वीकार किया। जलवायु परिवर्तन पर भारत के कदम उसकी सॉफ्ट पावर का अच्छा प्रदर्शन है। उसने अपनी घरेलू नीतियों, अन्य विकासशील देशों की समझ आदि में बदलाव के साथ नेतृत्व किया है। यह सॉफ्ट पावर का अहम उदाहरण है। परंतु सच यही है कि सॉफ्ट पावर अभी भी कठोर जमीनी कदमों पर निर्भर है।

Date: 25-05-18

जरूरी संशोधन

संपादकीय

केंद्रीय मंत्रिमंडल ने बुधवार के उस अध्यादेश को मंजूरी दे दी जिसके जरिये ऋणशोधन एवं दिवालिया संहिता (आईबीसी) में संशोधन किया जाएगा। यह संशोधन इस व्यवस्था की उन कमियों को दूर करने के लिए लाया जा रहा है जो अब तक सामने आई हैं। वस्तु एवं सेवा कर की शुरुआत के बाद सरकार की इस बात के लिए सराहना की जानी चाहिए कि वह पहले ही लागू हो चुके सुधार की कमियां दूर करने की दिशा में आगे बढ़ रही है। यह अध्यादेश खासतौर पर अचल संपत्ति क्षेत्र और छोटे एवं मझोले उद्यमों (एसएमई) से जुड़ी आईबीसी की प्रक्रियाओं की विसंगतियों को दूर करना चाहता है। ये दोनों क्षेत्र अर्थव्यवस्था में वृद्घि के प्रमुख स्रोत हैं और देश के मध्य वर्ग के विस्तार के लिए अचल संपत्ति क्षेत्र में स्थिरता और पारदर्शिता दोनों आवश्यक हैं।

सरकार ने वर्ष 2022 तक सबको आवास देने का लक्ष्य तय किया है। इसलिए मकान खरीदने वालों के लिए पारदर्शिता और सुरक्षा प्राथमिकता होनी ही चाहिए। अचल संपत्ति क्षेत्र को विकसित और आधुनिक बनाने के प्रयास में ही वर्ष 2016 में अचल संपत्ति नियमन एवं विकास अधिनियम (रेरा) लाया गया था। माना जा रहा था कि यह कानून मकान खरीदने वालों को गड़बड़ी करने वाले डेवलपरों से सुरक्षा प्रदान करेगा। परंतु देखा जाए तो आईबीसी और रेरा एक दूसरे के साथ सुसंगत नहीं नजर आते। खासतौर पर आईबीसी के तहत आशंका यह थी कि मकान खरीदने वालों को असुरक्षित ऋणदाता माना जाएगा क्योंकि अगर कोई अचल संपत्ति कंपनी दिवालिया होगी तो परिसंपत्ति वितरण में उनका नंबर बहुत पीछे आएगा। इसके चलते पहले ही कई तरह की कानूनी दिक्कतें सामने आनी शुरू हो गईं। जब राष्ट्रीय कंपनी कानून पंचाट (एनसीएलटी) ने इलाहाबाद में जेपी इन्फ्राटेक को दिवालिया प्रक्रिया में भेजा लेकिन मकान खरीदने वालों ने इस मामले को देश की सर्वोच्च अदालत में चुनौती दे दी। सर्वोच्च न्यायालय ने आईबीसी की प्रक्रिया में मकान खरीदने वालों का पक्ष रखने के लिए एक न्यायिक मित्र की नियुक्ति कर दी।

अध्यादेश के बाद मकान खरीदने वालों को वित्तीय ऋणदाता माना जाएगा और ऋणदाताओं की समिति में उनका प्रतिनिधित्व होगा। यह समिति एनसीएलटी ले जाई जाने वाली किसी भी कंपनी की निस्तारण योजना को मंजूरी देगी। परंतु ऐसा नहीं है कि इससे समस्या पूरी तरह हल हो जाएगी। कई सवाल हैं जिनका जवाब दिया जाना है। स्वाभाविक सी बात है कि बैंक इस बात से नाराज हैं कि मकान खरीदने वाले लोग अपने निवेश के अनुपात में प्रक्रिया पर नियंत्रण

हासिल कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जेपी के मामले में मकान खरीदने वालों ने कंपनी में बैंकों की तुलना में 37 अरब रुपये अधिक लगाए थे। यह भी स्पष्ट नहीं है कि मकान खरीदने वालों के प्रतिनिधि का चयन कैसे किया जाएगा और ऋणदाता समिति के प्रभाव और उसके सहज रूप से काम करने से क्या तात्पर्य है।

एसएमई से जुड़ी चिंताओं का निवारण करते हुए 2.5 अरब रुपये तक के कारोबार वाली कंपनियों के प्रवर्तकों को आईबीसी प्रक्रिया में बोली लगाने की अनुमति दी गई है। प्रवर्तकों की बोली पर सीमा भी लगाई गई है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे इसका लाभ न उठा सकें। परंतु यह स्पष्टïा हो गया है कि एसएमई के लिए ये बाधाएं हकीकत से परे हैं। इसीलिए ढेर सारी कंपनियां मूल्य ह्रास के साथ लिक्विडेशन (परिसंपत्तियों का नकदीकरण) के लिए जा रही हैं। सरकार ने इस समस्या को समय पर हल करने की ठानी है। रोजगार की कमी की समस्या से निपटने और सुधार को गति देने के लिए एसएमई क्षेत्र को हरसंभव प्रयास करने होंगे। सरकार को आईबीसी में अन्य जरूरी और उपयोगी बदलावों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 24-05-18

मुक्तिदायिनी धारा का ठिठक जाना

राममोहन पाठक, पूर्व निदेशक, मालवीय पत्रकारिता संस्थान, काशी विद्यापीठ

गंगा भारत की पहचान और भारतीयता का जीवंत परिचय है। प्राचीन काल से गंगा दशहरा गंगा के लिए संकल्प और समर्पण का पर्व रहा है। जब हम गंगा तटवासी अपने पूरे परिवार के साथ इस पर्व पर गंगा के 'कटिपर्यंत'(कमर तक) जल में खड़े होकर गंगा की आराधना करते थे- गंगे ममाग्रतो भूया, गंगे मे तिष्ठ पृष्ठत: यानी गंगा हमारी समग्र रूप से रक्षा करें। यह गंगा के प्रति मानव की कृतज्ञता के भाव से पूरित प्रार्थना होती थी, लेकिन यह पवित्र भावधारा अब ठिठक सी गई है। किसी नदी को केंद्र मानकर संपूर्ण उत्तर भारत, खासकर जिन पांच राज्यों- उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल (और आगे पड़ोसी देश बांग्लादेश) से होकर गंगा बहती है, वहां गंगा दशहरा इस नदी के मुक्तिदाता स्वरूप को नमन का पर्व है। कहते हैं कि वैशाख मेंइसी तिथि को गंगा का पृथ्वी पर अवतरण हुआ। गंगा दशहरा इसी अवतरण का महोत्सव है।

ठीक 32 साल पहले 'गंगा एक्शन प्लान' का शुभारंभ करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कहा था- इस योजना की सफलता सबके सहयोग पर निर्भर होगी। इसलिए इस योजना को जनांदोलन बनाने की चुनौती है। लेकिन इस योजना के पहले चरण को पूरी तरह सरकारी वित्त-पोषित योजना के रूप में क्रियान्वित किए जाने के बाद साल 2000 में इसे बंद कर दिया गया। इसके बाद दूसरे चरण की समाप्ति और आगे की योजना के परिणाम भी सार्थक नहीं रहे। गंगा एक्शन प्लान एक सरकारी कार्यक्रम बनकर रह गया। चार साल पहले इसी मई महीने में गंगा तट पर आयोजित

जनसभा में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कहा था- 'मैं काशी आया नहीं, मुझे गंगा मां ने बुलाया है।' गंगा की सफाई और संरक्षण का वादा करते हुए उन्होंने जो शुरुआत की, उस सरकारी कार्यक्रम से आमजन को जोड़ने के प्रयासों का अभी भी इंतजार हो रहा है। गंगा को कानूनी संरक्षण देने की तैयारी पूरी हो चुकी है। सरकारी घोषणा के अनुसार, इस कानून के मसविदे में गंगा में प्रदूषण फैलाने पर कड़े दंड के साथ ही गंगा की जलधारा के संरक्षण और इसके उपयोग के संबंध में भी कानूनी प्रावधान प्रस्तावित हैं। दुनिया भर में नदी कानूनों की एक परंपरा है। अमेरिका में मिसीसिपी व अमेजन नदियों, ब्रिटेन की टेम्स और यूरोप की राइन नदी के संबंध में बने कानून इन नदियों के संरक्षण की दिशा में कारगर रहे हैं। कई देशों में नदियों को 'जीवित मानव' का दर्जा प्राप्त है। हाल ही में उत्तराखंड उच्च न्यायालय के पीठ ने गंगा को 'जीवित मानवीय इकाई' का कानूनी दर्जा देते हुए एक मामले में गंगा को नोटिस जारी की थी, हालांकि बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने इसे निरस्त कर दिया। इजरायल में जल को राष्ट्रीय धरोहर का दर्जा प्राप्त है। भारत में भी गंगा को राष्ट्रीय धरोहर का दर्जा देने की मांग उठी है। गंगा के लिए प्रस्तावित कानून में गंगा में प्रदूषण रोकने के लिए सिविल और आपराधिक, दोनों तरह के प्रावधान सम्मिलित किए जा रहे हैं। प्रस्तावित कानून के चार मसविदे तैयार हो चुके हैं।

भले ही हम आज गंगा के लिए कानून बनाने की कोशिशों में लगे हैं, लेकिन पारंपरिक रूप से हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा नदी से व्यवहार संबंधी कानून पहले से ही परिभाषित हैं। गंगा में मल विसर्जन, शौच, मुंह धोना, थूकना, कपड़े धोना, गंदगी बहाना, पूजा के फूल-फल फेंकना, जलक्रीड़ा, विलासिता, गंदे कपडेफेंकना और जलधारा पर चोट करना, मैले शरीर से गंगा स्नान आदि वर्जित हैं। पर हम इन नियमों की निरंतर अवहेलना करते रहे। यदि इन नियमों का पालन किया गया होता, तो गंगा न तो दूषित होती, न ही किसी नए कानून की आवश्यकता पड़ती।

वैसे पूरा देश गंगा के प्रश्न पर एकमत है कि इसका संरक्षण आस्था का मुद्दा है। न्यायालय के इस अभिमत के साथ नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल और सरकार की महत्वाकांक्षी 'नमामि गंगे'परियोजना के कार्य बढ़ रहे हैं, पर काफी धीमी गति से। इसे देखते हुए ही सर्वोच्च न्यायालय ने गंगा की सफाई के समयबद्ध कार्यक्रम पर बल दिया और कहा- ऐसे तो सौ वर्षों में भी गंगा साफ नहीं हो सकेगी। भारत सरकार के महालेखा परीक्षक ने भी गंगा सफाई के क्रियान्वयन में हो रही देरी, निर्धारित धनराशि का उपयोग न हो पाने पर टिप्पणी की है, जिसे देखते हुए सरकार ने अंतरराष्ट्रीय मदद लेने पर विचार शुरू किया है। पर केंद्र सरकार द्वारा आवंटित 20 हजार करोड़ की धनराशि में से अभी सिर्फ 10-15 प्रतिशत का उपयोग किया गया है। गंगा तट के 29 बडे शहरों व 50 छोटे नगरों में गंगा के निर्मलीकरण की योजनाएं चलाने और शीघ्र 118 छोटे नगरों में योजनाएं प्रारंभ करने का लक्ष्य रखा गया है, पर जापान से मिली 20 हजार करोड़ रुपये की सहायता में से अब तक केवल 7,272 करोड़ का ही उपयोग किया जा सका है।

गंगा परियोजना का चार दशकों का लंबा दौर गुजरने के बाद अब सरकार व योजनाकारों ने गंगा के निर्मलीकरण में जन-सहभागिता का महत्व समझा है। अब 'जन-भागीदारी' के तरीके से 'गंगा ईको टास्क फोर्स' की चार बटालियनें काम में लगाने के लिए 4,000 करोड़ की राशि आवंटित की गई है। गंगा के संरक्षण और इसकी धारा को प्रदूषण मुक्त करने के लिए गोमुख से गंगा सागर तक लोगों में जागृति के लक्षण दिखने लगे हैं। उत्तर प्रदेश में लोगों ने अपने संसाधनों से 'गंगा हरीतिका अभियान' शुरू किया है। बिना किसी सरकारी अनुदान के चलाए जा रहे इस अभियान की शुरुआत अच्छी होने के बावजूद कानपुर चमड़ा उद्योग, ऋषिकेश-हरिद्वार में आश्रमों, होटलों व घरों के सीवर और वाराणसी में अथक प्रयासों के बावजूद 39 सीवर स्रोतों से गंगा धारा में घुल रहा दो करोड, 90 लाख लीटर कचरा इसकी सफलता पर बड़ा प्रश्नचिह्न है। प्रदूषण से डॉल्फिन जैसे जलचरों की मौत या इनके लुप्त होने से जैव विविधता को खतरा है। वाराणसी में करोड़ों की लागत से बनकर ठप पड़े सीवर ट्रीटमेंट प्लांट गंगा 'निर्मलीकरण योजना' की विफलता की कहानी कह रहे हैं।

'गंगा हरीतिका' अभियान में बिजनौर से बलिया तक 27 जिलों के 1,140 किलोमीटर क्षेत्र में नदी तट और नदी के विकास की योजना में लोगों का आगे आना एक अच्छा संकेत है। हालांकि जरूरत इसे आम आदमी से जोड़ने और जनांदोलन बनाने की है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 24-05-18

Wrong end of the frame

Proposed changes in how UPSC entrants are allotted services misunderstand administration and reform.

K M Chandrasekhar, [The writer is a former cabinet secretary]

I have seen statements by many of my colleagues on a recent missive sent out to cadre controlling authorities on allotting candidates successful in the UPSC examination to various services after the foundation course rather than on the basis of preferences indicated by them and marks obtained in the examination. This leaves me somewhat bemused. In my time, allotment to the services was made on the basis of the marks secured in the UPSC examination. As I recall, the maximum score was 1750 for the IAS and 1850 for the Indian Foreign Service. Inter se ranks within the service could, however, change based on the marks secured at the foundation course and the professional courses. The marks secured in these examinations were added to the UPSC marks while fixing final ranks.

At that time, and subsequently, the UPSC acquired a reputation for integrity, transparency, independence and credibility. It is in this context that I cannot fully fathom what the government is attempting to do this year. If selections to the services are to be done after the foundation course, then the UPSC examination would be reduced to a qualifying examination. I doubt whether this could be the intention. The UPSC must not be converted into an institution that merely provides a bunch of probationers who will be fitted into various services later after completion of the foundation course. The integrity of the process will then be called into question, the credibility of governmental processes being generally not too highly regarded. There could be allegations of capture of the selection process by politicians and bureaucrats and of discrimination on the basis of region, religion, caste and community.

How the process of selection will be done is also not clear to me. The foundation course is no longer entirely done in the LBS National Academy of Administration as in the past but in various places. On what basis will the foundation course be able to determine whether an individual probationer is better suited for Railway Traffic rather than Income Tax? Who will decide which probationer will go to which service and on what basis? Is it possible to assess the potential of an officer within a few months in a foundation course conducted at different places? What happens to the marks secured in the UPSC examination? Will they be added to the foundation course scores? What will be the inter se weights given?

I am also doubtful as to whether the quality of administration will improve as a consequence of this change. Civil servants have diverse tasks to perform, multiple objectives to achieve and frequently, as governments and political masters change, their goalposts also keep shifting. I see no real problem at the base of the pyramid. All officers learn more on the job than during training. The real need is for a change in performance review and for recognition of performance as officers go up the ladder. Changing allotment procedures at the point of entry can make no difference to work output.

There are, therefore, many confusing elements in the present proposal. From what I have read, the idea emanated from the PMO. This would mean that the matter would have been studied in great detail at various levels and all possible issues thrashed out intensively in consultation with the UPSC. In that case, it would have been prudent to put out a detailed note on the suggested process change, which would perhaps have allayed many of the doubts that have been expressed by several people. Or perhaps this is just an idea still at a very preliminary stage that has been floated for a response from cadre controlling authorities. What has made the matter more confusing is the statement that it is being considered for implementation in the current year itself.

I have been concerned with the ad hoc nature of administrative reform in India. We had tried to systematise performance management through results framework documents a few years ago. This received no political support, either from this government or the previous government and, even though it made deep inroads into certain areas of governance, it eventually ground to a halt. Our performance appraisal system has been subjected to frequent change, moving from a detailed performance report to one based entirely on numerical scores and, now, to the present 360 degree assessment for empanelment. We make changes here and there, some on account of the initiative of individuals, some driven by the irresistible force of advances in technology.

I was extremely happy in November 2015, when an MoU was signed by India with Malaysia at the instance of our prime minister on collaboration in performance management, project delivery and monitoring of government programmes. The prime minister said on the occasion, “I am happy that we are strengthening our excellent cooperation in public administration and governance. I have personally interacted with PEMANDU, and am pleased that our NITI Aayog will work with them.”

This seemed to signal the start of system reform in India, going even beyond the performance management system that had been attempted earlier. PEMANDU, the Performance Management and Delivery Unit of Malaysia, was a composite system driven from the top by the Prime Minister of Malaysia himself. It goes beyond the New Public Management systems introduced in the UK, Australia, New Zealand and other countries as well as the reform measures undertaken earlier by the then (and present) Malaysian Prime Minister, Mahathir Mohamed.

Significant change in the quality and content of administration necessarily involves a system approach based on laying down key result areas, both at strategic and implementation levels, their effective monitoring, concomitant changes in financial systems, including accrual accounting, well designed performance incentive systems, performance agreements, structural changes — all these as part of one system with deep and sustained commitment at the top.

THE HINDU

Date: 24-05-18

Do we need the office of the Governor?

To understand why we don't, it is important to understand its origins in the colonial regime

Gautam Bhatia is a Delhi-based lawyer

Among all the players who strutted and fretted across the stage during the recently concluded Karnataka elections, it is the Governor of the State, Vajubhai Vala, who emerged with least credit to his name. His decision to first invite the Bharatiya Janata Party (BJP) to take a stab at forming the government was perhaps a legitimate exercise of his constitutional discretion (albeit without any recorded reasons for ignoring the post-poll Congress-Janata Dal (Secular) alliance's claims to having an absolute majority). However, the invitation was extended at 9 p.m., and the swearing in fixed for 9.30 a.m. the next day, ostensibly to ward off any judicial challenges, and present a fait accompli.

His decision to grant B.S. Yeddyurappa 15 days to prove his majority, when the latter himself asked for only a week, was troubling enough for the Supreme Court to intervene and order an immediate floor test. So was his appointment of BJP MLA K.G. Bopaiah as Pro Tem Speaker to conduct the floor test, when the latter had been castigated by the Supreme Court in 2011 for partisan conduct (although this time the Court chose not to intervene). Each of the Governor's actions was taken in that uncertain grey area of "discretion" — partisan enough to skew the process in favour of the BJP, but not illegal enough to warrant judicial intervention.

Short-term options

In the aftermath, some have called upon the Governor to resign; others have suggested that the post of the Governor be reserved for non-political appointees; and still others have urged the Supreme Court to lay down the law on how the Governor ought to act when an election yields a fractured verdict. All of these, however, are patchwork solutions that miss the point: the flaw lies not with the identity of the individual who occupies the post, but in the design of the Constitution itself. If we want to put an end to the continuous misuse of the Raj Bhavan for partisan political ends in a manner that threatens both federalism and democracy, we have to rethink the role of the Governor in the constitutional scheme.

To do that, it is important to understand the origins of the office in the colonial British regime. Through the course of the early 20th century, the Indian nationalist movement managed to extract gradual and incremental reforms towards responsible government from the British rulers. These reforms culminated in the Government of India Act, 1935 which established provincial legislative assemblies elected from a limited franchise.

However, in order to ensure that overriding power remained with the British, the Act retained the post of Governor (a holdover from the old, "diarchy" system), and vested him with "special responsibilities" that,

in essence, allowed for intervention at will. In a searing critique, K.T. Shah (who was later one of the most articulate members of the Constituent Assembly, or CA), wrote that the Governor would inevitably be biased in his functioning, and his actions would remain at odds with those of popularly elected Ministers.

Despite the nationalist movement's bitter experience with Governors over almost three decades, the CA chose to retain the post, and continue to vest it with discretionary power. During CA debates, it was pointed out that the Articles dealing with the powers of the Governor were almost verbatim reproductions of the 1935 Act. Defenders of the office raised two broad arguments: first, that there was a dearth of competent legislators in the States; and second, that a certain amount of centralisation of power was necessary in a nascent state such as India. Concerned members of the CA were assured that the Governor would remain only a constitutional post, and would have no power to interfere in the day-to-day administration of the State. However, when Rohini Kumar Chaudhari raised a particularly prescient concern about the Governor's powers to "form the first Ministry" and call upon "anyone, whether he has a big majority or a substantial minority", this was brushed aside by saying that a no-confidence motion could soon resolve such issues.

A constitutional 'choke point'

The CA debates around the office of the Governor reveal an important point. The Constitution was the culmination of the democratic aspirations of the people, and its major pillars — universal adult suffrage, the parliamentary system, fundamental rights — are all expressions of those aspirations. But there were also moments where the framers lacked the courage of their convictions. If granting universal adult suffrage at one stroke was a leap of faith, then at other places, driven by concerns about maintaining national integrity and preventing disintegration in the teeth of the trauma of Partition, the framers pulled up short. They were committed to federalism — but not too much federalism, for fear of secession; they were committed to popular democracy, but also wanted to retain some manner of control, lest democracy unleash the kinds of passions that would trigger its own destruction. The office of the Governor represented one such "choke point" in the Constitution (ordinances and emergencies are others), where federalism and the popular will were to be kept in check from above, if the occasion ever arose.

The occasion arose very soon. Soon after the first general elections, the State of Madras went to the polls in 1952. In a 375-member Assembly, the United Democratic Front (UDF), a coalition of parties, held 166 seats. The Congress finished with 152.

The Governor, Sri Prakasa, ignored the UDF's claim to form the government, and instead invited the Congress, which did form the government with Rajaji as Chief Minister, after engineering several splits and defections (including through offers of cabinet posts). The civil rights lawyer, K.G. Kannabiran, writes that "on this act of impropriety Rajaji became the chief minister of the first Congress government after Independence." Rohini Kumar Chaudhari's fears had come true, and the justification was eerily similar: the UDF's communist orientation rendered it ineligible to govern (no matter how the people voted), and it was incumbent upon the government to ensure an orderly government. And so it has been ever thus.

The purpose of this history is not to draw an equivalence between 1952 and 2018, or to suggest that the sins of the past justify sinning in the present. It is to demonstrate that the post of the Governor, by constitutional design, acts as a check upon both federalism and popular democracy. And even though the framers insisted that it was only a "constitutional post", Karnataka has just been the most recent example demonstrating that the Governor has enough discretion to skew the political process in the direction that the Central government desires.

Specify the rules

Perhaps we are not in a position to judge the wisdom of the framers' choice in 1950, when they were driven by imperatives we can no longer assess. But we are certainly in a position to judge the wisdom of continuing with this in 2018: the idea of the Governor standing as a bulwark against secessionism, or providing legislative expertise to States otherwise starved of it, are no longer valid justifications. On the other hand, the Governor's interference with the democratic process is both real and continuing. As history shows, the solution is not to tinker around the edges, or hope that the courts will come to our rescue. It is to ask whether the constitutional "choke point" of the Governor serves any valid purpose in 2018 — and if not, whether it should continue to exist. Would it not be better, for example, to clearly specify the rules governing government-formation in the Constitution itself, and reduce swearing-in to a purely ceremonial action, to be performed by the Chief Justice of the relevant High Court? This — or any other potential solution that does away with the "choke point" — is what must now be debated.

Date: 24-05-18

Natural capital in the 21st century

India must calculate 'its green GDP' to factor in the value of the environment in its growth

Feroze Varun Gandhi is a Member of Parliament, representing the Sultanpur constituency for the BJP

A few years ago, India suffered a cost of $550 billion, about 8.5% of GDP, due to air pollution, according to a World Bank report; the cost of externalities such as water pollution and land degradation were possibly far higher. Through commodity exports, we effectively transfer natural capital to our trade partners, raising the risk of desertification and land being degraded significantly. Within a century, our food production could see a loss of 10-40% if these trends continue. So when we crow about GDP growth, we should also consider the decline in natural capital in our national accounts.

Estimation is a challenge

The idea of having a national account for wealth accrued over a year is accepted in most major economies. Such national accounts (GDP, net national product, gross savings) provide a measure of an economy's performance and form the basis for socio-economic policies, while highlighting the gap between potential and actual economic output.

GDP computations indicate the economic activity in a country, with rising GDP growth rate often leading to international prestige. However, such estimates often exclude the variations in natural capital by assuming them to be constant and indestructible. Such natural capital is often self-generating (water, clean air) but needs to be handled in a sustainable way in order to avoid depletion.

Natural capital can cover entire ecosystems such as fisheries and forests, besides other hidden and overlooked services — for example, the regeneration of soil, nitrogen fixation, nutrient recycling,

pollination and the overall hydrological cycle. Valuing such ecosystems can be challenging, with their market value often termed as zero. When pollution happens, it is actually a depletion of our natural capital as, for example, acid rain damages forests and industrial seepage affects water quality. In a modern economy, the challenge is to estimate such depreciation to natural capital.

Consider groundwater. Most groundwater basins in India are subjected to unrestricted extraction until the 'marginal value of extracting water is less than the unit extraction cost' — i.e. when the water table drops so low new borewells are needed. Effectively, any rents due to groundwater depletion are dissipated indefinitely.

Now many economists have pushed for an "environmental Kuznets curve", highlighting that the 'relationship between GDP per capita and the concentration of sulphur dioxide in the local air' is an inverted U curve. Such a relationship leads to the postulation that people from 'developing countries can't place a weight on natural environment' and should consider pollution as an acceptable side-effect of GDP growth.

However, this inverted U curve is found primarily for local pollutants that lead to short-term damages (sulphur, particulates) and not for pollutants that lead to long term and dispersed costs (carbon dioxide). In addition, the inverted U curve hides systemic consequences of emissions. We are long past treating natural capital as a luxury. In fact, it is a necessity.

While India might have a GDP of $2.65 trillion in nominal terms, it fails to take into account the externalities of such economic growth. For example, India routinely suffers from high levels of air pollution that impose costs on local transport, health and liveability in urban and rural areas. When economic growth leads to the destruction of forests, wetlands and woodlands for agriculture, mining or even urban expansion, it is typically the poorest of the traditional dwellers who suffer. Ecological collapse can soon come, examples being the Darfur region in Sudan and countries in the Horn of Africa. All were subject to rapid socio-economic decline.

Some attempts

India has sought to unveil "green GDP" figures in the past. In 2009, the Centre announced that it would publish a "green GDP" that would include the environmental costs of degrading and depleting our forests, grasslands and natural stock. An expert programme, sponsored by the Ministry of Statistics and Programme Implementation, released a Compendium of Environment Statistics 2013. The group recommended that India shift to a system of measuring comprehensive national wealth, which includes items such as human capital, capital equipment and natural capital. However, implementation of such well-founded recommendations has been constrained by the lack of micro-level data on capital formation, particularly in a natural context.

While the 12th Five Year Plan undertook groundwater resource mapping at the national level, a similar focus is essential for data on land usage, forests and mineral wealth. 'India's current national accounts incorporate such environmental considerations in a limited fashion'. GDP includes the value of: minerals extracted; timber, fuelwood and non-timber forest products; natural growth of cultivated assets for some crops; and the output from dung manure. In addition, 'gross fixed capital formation contains output estimates from the improvement of land along with irrigation works and flood control projects'. However, even in GDP estimates of timber value, there is significant under-estimation — non-monetised goods and services provided from timber forests are not considered.

India should seek to publish “green GDP” figures that take into account depreciation of natural capital stock due to economic exploitation and environmental degradation. This can follow the template provided by the UN’s System of Environmental-Economic Accounting. A few studies have tried to document the ecological services offered by natural capital in India. But we need a ‘greater push for empirical studies of the potential value of such ecosystem services’. Adapting our national accounts in line with this framework will help in incorporating the value of the environment in our growth while helping us to focus on developing a feasible transition path to a green economy.